

मुद्राखोरों के हाथ में आपकी जान

● लता

हाल ही में गुड़गाँव में एक करोड़ की नकली दवाएं बरामद हुई हैं। यह खबर पढ़कर आपके दिल में गुस्सा और खौफ देनों ही घर कर गया होगा। एक ओर आपको इस बात पर गुस्सा आ रहा होगा कि वे कैसे लोग हैं जिनके लिए इंसानी जान की कीमत चंद सिक्के हैं, वहीं आपको यह डर भी होगा कि उन नकली दवाओं का शिकार आप या आपका परिवार न हो जाए।

आपका गुस्सा और डर दोनों ही बाजिब है। मगर यह कई गुना और बढ़ जाएगा अगर आपको इन दवाओं के पूरे व्यापार और इस व्यापार में मुनाफे के लिए चल रही साजिशों और तोड़-फोड़ के बारे में पता चल जाए। गुड़गाँव में पकड़े गए नकली दवाओं के निर्माता और ऐसे तमाम लोग दवाओं के व्यापार की दुनिया के मामूली प्यादे हैं। ये ज्यादा से ज्यादा एक छोटे से इलाके को प्रभावित कर सकते हैं। बजीर और बादशाह तो वे नामी-गिरामी दवा कम्पनियाँ हैं जिनके भावुक विज्ञापन आपके दिलों को छू जाते हैं। आप दवा खरीदते समय इन नामों को पढ़कर संतुष्ट हो जाते हैं और समझते हैं कि इतनी बड़ी कम्पनियों की दवाओं के केमिकल कम्पोजिशन तो दुरुस्त ही होंगे। लेकिन क्या आपने कभी यह सोचा है कि आप जिस बीमारी के लिए वह दवा खरीद रहे हैं वह वाकई उसी बीमारी की दवा है?

जी हाँ, चौंकिए मत! ये दवा कम्पनियाँ बाजार में महँगी दवाओं को बेचने के लिए कई किस्म के हथकण्डे अपनाती हैं। मिसाल के तौर पर दवाओं की जानकारी देने वाली पत्र-पत्रिकाएँ, शोधकर्ता और शोधकर्ताओं के दस्तावेज। खास तौर पर, इस पूरे प्रपञ्च में इन पत्र-पत्रिकाओं की महती भूमिका होती है।

डॉक्टरों तक पहुंचने वाली इन पत्र-पत्रिकाओं का ध्येय ज्ञानवर्धन करना नहीं बल्कि उन्हें गुमराह करना होता है। अब सवाल यह उठता है कि आखिर इन पत्र-पत्रिकाओं में होता क्या है और दवा कम्पनियों का इससे क्या सरोकार होता है?

इन पत्र-पत्रिकाओं में शोधकर्ताओं के शोध छपे होते हैं। सम्पादक इन शोधकार्यों को पुनःप्रकाशित करते हैं। इन पुनःप्रकाशनों में दवा विशेष के बारे में मूल सम्पादक के नाम से वे रायें छपी होती हैं जिनके बारे में वे सपने में भी नहीं सोच सकते। इन पर असली सम्पादक के नाम होते हैं। नतीजतन डॉक्टर आश्वस्त होकर इन दवाओं का सुझाव मरीजों को देते हैं। मगर ये दवाएँ अक्सर उन रोगों की होती ही नहीं हैं। कई

पत्रिकाएँ अपनी पूरी दुकानदारी ही इस तरह के पुनःप्रकाशनों पर चला रही हैं। ये पुनःप्रकाशन अपने पूरे हरबे-हथियार, यानी सम्पादक, शोधकर्ता और पत्रिका के नाम के साथ बाजार में उतरती हैं और दवा कम्पनियाँ इनकी कई प्रतियाँ महँगे दामों में खरीदती हैं।

अक्सर ये दस्तावेज सच्चे नहीं होते। क्योंकि ये दस्तावेज और शोधकार्य भी इसी साजिश का एक हिस्सा होते हैं। किसी भी शोधकार्य का स्वरूप वह कम्पनी या सम्पादक तय करता है जिसने इस शोध को हर प्रकार से सहायता पहुंचाई है। इन दस्तावेजों में उनके हस्तक्षेप होते हैं, क्योंकि वे अपने मुनाफे की लाठी किसी भी सूत में हिलने नहीं देते। अतः वही लिखा और छापा जाता है जिसे मुनाफे में तब्दील किया जा सकता हो। इस तरह शुरू होता है शोधकर्ता, मूल सम्पादक और प्रायोजकों के बीच का टकराव, जिसमें बताने की ज़रूरत नहीं कि जीत हमेशा प्रायोजकों की ही होती है।

इन शोधकर्ताओं के कंधों पर जिन्दगी की बचाने और समाज के सामान्य रूप से अच्छे स्वास्थ्य की जिम्मेदारी होती है। तो फिर वे ऐसे शोधकार्य क्यों अपने हाथों में लेते हैं जिनका उद्देश्य दवा कम्पनियों का मुनाफा हो, या इन दवा कम्पनियों को अपने शोधकार्य क्यों सौंप देते हैं? जबाब साफ ह—इन शोध कर्ताओं को पैसा चाहिए, फण्ड चाहिए। वे ऐसे ही शोध में हाथ लगाएंगे जिसमें मुनाफे की गुंजाइश हो, क्योंकि कोई भी कम्पनी उसे तभी प्रायोजित करेगी। और इस तरह ये कम्पनियाँ इन शोधों और उनके परिणामों पर पूरा हक रखती हैं। फण्ड लेने के कारण शोधकर्ता कम्पनियों के हाथ की कठपुतली बन जाता है।

डॉक्टर इन पत्र-पत्रिकाओं को स्वतंत्र मानकर इन पर निर्भर होते हैं। मगर सच यह है कि वे भ्रष्ट होती हैं। चंद पिक्कों के लिए ये करोड़ों जिन्दगियों के साथ खिलवाड़ करती हैं और जमीर को ताखे पर रखकर प्रायोजकों के पीछे दुम हिलाते घूमती हैं।

इस तरह चाहे सम्पादक का हो, या शोधकर्ता का हो या फिर कम्पनियों का हो, मुनाफा ही इस सारे प्रपञ्च का रचयिता बन जाता है और पूँजीवादी समाज के हर क्षेत्र की तरह यहाँ भी मुनाफे की इमारत करोड़ों आम इंसानों की लाशों पर खड़ी होती है। लेकिन इंसानी जिन्दगी और सेहत के मामले में इस तरह पैसों के पीछे कुछ भी कर डालने का उन्माद विशेष रूप से घृणित और जुगूप्सित है।